SHODHASAMHITA
शोधसंहिता
ISSN 2277-7067
UGC CARE Group 1

जैन स्थापत्य कला का वैशिष्ट्य

डॉ. सत्यनारायण भारद्वाज

सहायक आचार्य, प्राकृत एवं संस्कृत विभाग, जैन विश्वभारती संस्थान, लाड़नूं (राज.)

भूमिका :

कला भारतीय संस्कृति का एक अविभाज्य अंग रही हैं। प्राचीनकाल से आधुनिक वैज्ञानिक युग तक कला का महत्त्व निर्विवाद रूप से सत्य है। प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने जीवन का चरम लक्ष्य आनन्द की अनुभूति को माना है। अनुकरण, आत्माभिव्यंजना, सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति, काल्पनिक सृजन, कौशल–प्रदर्शन आदि किसी भी माध्यम और किसी भी रूप द्वारा कला की अभिव्यक्ति की जाए लेकिन उसका उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति ही होगा। कला में भारतीय जीवन और गतिविधियां इस बात की पुष्टि करती हैं कि रचनात्मक कला एक स्तर पर वस्तुओं, बिम्बों, विचारों और अनुभूतियां मनुष्यों के मन में भावनात्मक और बौद्धिक प्रतिक्रिया संवाहित करती है। प्राचीनकाल से ही कला का सम्बन्ध मनुष्य से रहा है, इसका साक्ष्य चित्रकला एवं मूर्तिकला में देखने को मिलता है। कला के माध्यम से सत्य, ज्ञान, भक्ति, प्रेम, धर्म, अहिंसा, शान्ति, कल्याण आदि भावनाओं को मूर्त रूप मिलता है साथ ही कला का धर्म से भी निकट का सम्बन्ध रहा है। वह न केवल इसलिये कि यह समाज में मनुष्य को सुखद ऐन्द्रिय अनुभूति प्रदान करती है, बल्कि इसलिये भी कि वह उसके सम्मुख उसी की जाति, समुदाय से सम्बन्धित बड़े स्पष्ट रूप में बिम्बों, प्रतीकों, रहस्यों और दंतकथाओं को प्रस्तुत करती है। एक बार इस रहस्य को जान लेने के बाद सम्राटों, धार्मिक समुदायों आदि ने बिना समय नष्ट किये इसका उपयोग अपने–अपने सिद्धान्तों, विचारधाराओं, रहस्यों, दंतकथाओं, देवताओं का जनता में प्रचार करने के लिये कला–चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य तथा वास्तुकला को माध्यम बनाना प्रारम्भ कर दिया।

कला के सन्दर्भ में जैन एवं बौद्ध धर्म का भारतीय कला को विशेष अवदान रहा है। जहां स्तूप परम्परा भारतीय कला को बौद्ध धर्म की देन[1] है, वहीं आयाग पट्ट तथा बड़ी–बड़ी तीर्थंकर–मूर्तियां जैनधर्म की देन मानी जाती हैं। बौद्ध भिक्षुओं के लिये गुहा–निर्माण का कार्य सर्वप्रथम मौर्य सम्राट् अशोक द्वारा करवाया गया, वही इन गुहाओं को आकर्षक कला का स्वरूप जैनधर्म की देन कही जा सकती हैं। यद्यपि अन्य धर्म से सम्बन्धित गुहाओं का निर्माण भी हो चुका था।

स्थापत्य कला के क्षेत्र में स्तूप, गुहा, मन्दिर, मूर्ति तथा स्तम्भ कला आदि का विशेष महत्त्व है। ये कलाएं प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष श्रमण परम्परा से सम्बघित रही हैं क्योंकि चाहे गुहा–निर्माण हो या मन्दिर–निर्माण तथा उनमें

मूर्तियों की स्थापना हो, चाहे स्तम्भों पर कलाकारी हो या स्तूपों की बनावट हो, उनमें धार्मिक पुट के साथ–साथ श्रमणों की तत्कालीन स्थितियों अर्थात् उनके रहने और उनकी समस्त दिनचर्या का भी ज्ञान हमें हो जाता है।

अब आगे जैन स्थापत्य कला के विभिन्न रूपों का राजवंशों के आधार पर ऐतिहासिक दृष्टि से वैशिष्ट्य को प्रस्तुत किया जा रहा है– जैसे–जैन गुहा, जैन मन्दिर, जैन स्तम्भ आदि।

जैन गुहाओं का वैशिष्ट्य :

प्राकृतिक कन्दराओं का शरण स्थल के रूप में उपयोग यद्यपि पाषाणकाल में मानव ने कर दिया था, लेकिन गुहा निर्माण का कार्य सम्राट् अशोक के समय में हुआ। यद्यपि भगवान बुद्ध ने किसी भी भिक्षु को एक रात्रि से ज्यादा तथा एक साथ दो भिक्षुओं को एक स्थान पर रहने पर प्रतिबन्ध लगा रखा था। अतः वर्षाकाल में भिक्षुओं को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। परिणामस्वरूप वर्षाकाल में भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को गुहाओं में रहने की अनुमति प्रदान कर दी। इस प्रकार वर्षावास के लिये विहार का निर्माण तथा भिक्षुसंघ के निमित्त विशाल पैमाने पर पर्वतों में गुहा निर्माण का कार्य आरम्भ हो गया। गुहा–निर्माण का स्थान निमित्त होने के बाद उस स्थान पर दो प्रकार की गुहाएँ खोदी गई – (1) विहार (2) चैत्य।

विहार वे गुहाएँ थी, जहां भिक्षुगण वर्षावास में निवास करते थे जबकि चैत्य वह स्थान था, जहां भिक्षुगण निवास के साथ पूजा भी वहीं करते थे अर्थात् चैत्य में अन्दर के आंगन में पूजा निमित्त स्थान बना दिया जाता तथा उसके पीछे एवं पार्श्व वीथिका में छोटे–छोटे कक्ष बना दिये जाते, जिनमें भिक्षुगण निवास करते थे। भारत में सबसे पहले पर्वतों को खोदकर गुहा–निर्माण का कार्य अशोक मौर्य के समय में हुआ तथा यहीं से गुहा निर्माण की प्रक्रिया चल पड़ी। बौद्ध धर्म की गुहाओं से प्रेरित होकर अनेक राजाओं ने हिन्दु एवं जैन श्रमणों के लिये भी गुहाएँ बनवानी प्रारम्भ कर दी।

मौर्यकालीन जैन गुहाओं का वैशिष्ट्य :

भारत में सर्वप्रथम गुहा–निर्माण का कार्य मौर्यकाल में प्रारम्भ हुआ जबकि बौद्ध धर्म के भिक्षुओं के लिये बराबर एवं नागार्जुन की पहाड़ी पर सम्राट् अशोक एवं उसके पौत्र दशरथ ने बौद्ध गुहाएं खुदवायी। इस काल में अशोक के पौत्र सम्प्रति ने भी राजगृह में दो जैन गुहाओं को खुदवाया। यद्यपि इसकी निश्चित जानकारी तो नहीं मिलती है, लेकिन फिर भी विभिन्न इतिहासकार इस पर अपनी सहमति प्रकट करते हैं।

राजगृह की गुहा की पहाड़ी के समान्तर विन्यास, सलामीदार द्वारशाखाएं, मेहराबदार छत और चमकदार प्रभा इसकी विशेषता है। इसका मुखमण्डप काष्ठ का बना है। इसके बाद में बनी उड़ीसा की कुछेक जैन गुफाओं और पश्चिम भारत के बौद्ध चैत्यगृहों में भी काष्ठ का मुखमण्डप बनाया गया है। मौर्यकालीन जैन गुहा

मुख्यतः जैन श्रमणों के विहार के लिये बनाई गई थी। राजगृह की गुहा एक कक्षीय है तथा इसकी सबसे बड़ी विशेषता इनमें द्वार और खिड़की दोनों बनाये गये हैं। इसमें पूजागृह या चैत्यगृह नहीं बने हैं।

शुंग एवं सातवाहनकालीन जैन गुहाओं का वैशिष्ट्य :

इस काल में बनी पाभोसा की जैन गुहा प्रमुख है। इस गुहा की बनावट भी बिल्कुल सादी और सामान्य आकार–प्रकार की है। इस गुहा की छत नीची है और उसमें उठने–बैठने के लिये आसन्दी बनाई गई है। इसकी छत मध्यसूत्र के दोनो तरफ गोलाकार और पार्श्व में समतल है। इसका द्वार इतना छोटा है कि इसमें घुटने के बल बैठकर ही जाया जा सकता है। द्वार के बायीं तरफ लगभग डेढ़ फुट व्यास की दो खिड़िकियां काटी गई है।[2]

चेदिवंश द्वारा निर्मित जैन गुहाओं का वैशिष्ट्य :

भुवनेश्वर (उड़ीसा) से चार मील उत्तर–पश्चिम में उदयगिरि और खण्डगिरि नामक बलुए पत्थर की दो पहाड़ियां हैं, जिनमें 33 गुहाएं हैं। ये चेदिराज खारवेल और उनके परिजनों ने जैन श्रमणों के रहने व तपस्या करने के लिये खुदवाई थी।

उदयगिरि की गुहाएं किसी निश्चित योजना के अनुसार न होकर पहाड़ी की स्वाभाविक ऊंचाई–निचाई के अनुसार खोदी गई है। उदयगिरि की यह गुहा आकार में बड़ी है। इस गुहा में गर्भशाला (कोठरियों) के सामने मुखमण्डप यानि बरामदा है। मंचपुरी स्वर्गपुरी गुहा दो मंजिली गुहा है, जिसकी प्रमुख विशेषता ऊपरी मंजिल को निचली मंजिल के ठीक ऊपर न बनाकर पहाड़ी में थोडा पीछे की ओर हटाकर बनाया गया है, जिससे उनके सामने एक खुली छत तैयार हो गई है। उड़ीसा की इन्ही दो मंजिली गुहाओं से प्रेरित होकर ऐलोरा में भी दो मंजिली गुहाओं का निर्माण हुआ।[3]

गर्भशालाओं के द्वारों के ऊपर बनाये गये मेहराब या कमानचे अर्धवृत्ताकार हैं। ये कमानचे अलंकृत हैं। इन पर मकर, गज, वृषभ अथवा मृग के मुख से निर्गत भांति–भाति की लताएं, फूल, पत्ते, हंस–श्रेणी और गज, वृषभ एवं सिंह का पीछा करते हुये बालको का अंकन है।[4]

गुप्तकालीन जैन गुहाओं का वैशिष्ट्य :

यद्यपि गुप्तकालीन शासक वैष्णव धर्मावलम्बी थे लेकिन फिर भी गुप्त शासकों ने अन्य धर्मों को भी पूरा प्रश्रय दिया। उनके संरक्षणत्व से भारतीय कला अपने शिखर पर पहुंची। तीसरी–चौथी सदी ईसवीं में किसी कारण से बिल्कुल बन्द हुआ गुहा–निर्माण का कार्य, गुप्तकाल में पुनः प्रारम्भ हो गया।

गुप्त वाकाटक काल की गुफाओं की मुख्य विशेषता यह है कि उनमें पूजा के लिये मूर्तियां भी उत्कीर्ण की जाने लगी। अब गुफाएं आवासीय न होकर पूजागृह बन गई। इस काल की एक जैन गुफा उदयगिरि

(विदिशा जिला, मध्यप्रदेश) की पहाड़ी में आज भी सुरक्षित है।[5] गुप्तकाल में खोदी गई पूजा निमित्त इन गुहाओं में पर्याप्त मात्रा में मूर्तियां भी उकेरी गई है। इन पूजागृह गुहाओं में मण्डप, गर्भगृह और छोटी बड़ी देवकुलिकाएं बनी होती है। गुप्तकालीन गुफाओं का एक समूह उदयगिरि (मध्यप्रदेश) में हैं इनमें गुफा संख्या 20 जैन गुहा है। यह पांच गर्भ वाली सबसे बड़ी गुहा है। इसके दो मध्य गर्भशालाओं में तीर्थंकर की मूर्तियां उत्कीर्ण है। तीर्थंकर की मूर्तियों के अतिरिक्त यह गुहा बिल्कुल सादी और अनाकर्षक है। इसमें वास्तुकला सम्बन्धी कोई उल्लेखनीय बात नहीं है।

गुप्तकालीन गुहा की प्रमुख विशेषता इनमें जैन तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियां उत्कीर्ण है, जिससे वे विहार तथा पूजागृह, इन दोनों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

राष्ट्रकूटकालीन जैन गुहाओं का वैशिष्ट्य :

राष्ट्रकूटकालीन राजे महान् राजे थे। सफल योद्धा होने के सथ–साथ ये राष्ट्रकूट राजा अच्छे निर्माणकर्त्ता, साहित्यकार और धर्म संरक्षक थे। इन्होंने जैनधर्म को पर्याप्त प्रश्रय दिया। इस काल में ऐलोरा, दक्कन, धाराशिव, अंकाई–तंकाई, भामेर तथा पटना में जैन गुहाएं खोदी गई। ऐलोरा में कुल 34 गुहाएं हैं, जो कि बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म तथा जैनधर्म तीनों धमों से सम्बन्धित है। गुह्या संख्या 30 से 34 तक जैन गुहाएं हैं, जो कि राष्ट्रकूट काल में खोदी गई थी।

प्रारम्भ में जहां गुहाएं एकदम साधारण एवं सादी थी वहीं भक्ति आन्दोलन ने जैसे ही जोर पकड़ा और मूर्तिपूजा का प्रचार–प्रसार बढ़ा तब जैन गुहाओं में भी तीर्थंकरों की प्रतिमाएं उत्कीर्ण की जाने लगी। इसी क्रम में प्रथम तीर्थंकर ऋषभ के पुत्र बाहुबली का अंकन भी प्रमुखता से होने लगा।

राष्ट्रकूटकाल से पहले भारतीय गुहाओं का कटाव सम्मुख भाग से अन्दर की ओर सुरंग की तरह किया जाता था परन्तु इस काल से उन्हें ऊपर से नीचे की ओर चारों ओर से कोर कर भी किया जाने लगा। ऐलोरा का छोटा कैलाश नामक जैन गुहा – 30 इसी तरह का एकाश्मक मन्दिर है। इन्द्रसभा नामक गुहा के प्रांगण में सिथत सर्वतोभद्र विमान को भी चारों तरफ से काट कर बनाया गया है। ऐलोरा की ये जैन गुहाएं कला के अद्वितीय उदाहरण हैं।

जैन मन्दिरों का वैशिष्ट्य

भारतीय स्थापत्य कला का महत्त्वपूर्ण अंग मन्दिर भी है। मन्दिर का सम्बन्ध हिन्दू धर्म के विविध सम्प्रदायों के अतिरिक्त भारतीय मूल के जैन एवं बौद्ध धर्मों के साथ भी रहा हैं। मन्दिरों का निर्माण मूर्ति–पूजा की भावना से ही हुआ है। मानव ने अपनी धार्मिक आस्थाओं को अभिव्यक्त करने के लिये जिन प्रतीकों या लांछनों का निर्माण किया, उनसे मूर्ति–पूजा का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। परिणामस्वरूप ईश्वर की विविध रूपों में कल्पना की

गई। देवी–देवताओं के मूर्त रूपों की पूजा हेतु स्थापना के लिये जो सुन्दर भवन निर्मित हुए, वहीं भवन मन्दिर कहलाए।

मन्दिर–निर्माण का कार्य कब से प्रारम्भ हुआ, यह प्रश्न अभी भी विवादग्रस्त हैं। लेकिन उदयगिरि के लेखों[6] से पता चलता है कि गुप्तकाल में गुहा मन्दिर का निर्माण होने लगा था। इसी आधार पर इतिहासकारों ने अनुमान लगाया कि मन्दिर–निर्माण का कार्य प्रथम बार गुप्तकाल में सम्पन्न हुआ। अलग–अलग समय में विभिन्न शासकों का सानिध्य पाकर मन्दिरों का निर्माण बहुत अधिक संख्या में होने लगा। हिन्दू मन्दिरों से प्रेरित होकर आगे चलकर अन्य धर्मों जैसे–जैन तथा बौद्ध धर्मों से सम्बन्धित मन्दिर भी बनने लगे। यहाँ जैन मन्दिरों के वैशिष्ट्य को विभिन्न राजवंशों के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है–

प्रतिहारकालीन जैन मन्दिरों का वैशिष्ट्य :

प्रतिहारकालीन जैन मन्दिरों में सबसे प्रमुख मध्य प्रदेश का ग्यासपुर (विदिशा) का मालादेवी मन्दिर है। यह एक दिगम्बर जैन मन्दिर है। इस मन्दिर का निर्माण नवीं शताब्दी ई. के उत्तरार्ध[7] में हुआ था। कुछ समय पूर्व तक इसे हिन्दू मन्दिर समझा जाता था।[8] लेकिन मूर्तियों के शीर्ष भाग में लघु जिन आकृतियां उत्कीर्ण होने तथा गर्भगृह एवं भित्ति की जिन एवं चक्रेश्वरी और अम्बिका मूर्तियों के आधार पर इसका जैन मन्दिर होना निर्विवाद है। गर्भगृह में 11 वीं, 12 वीं शती ई. की पांच जिन मूर्तियां हैं। यह मन्दिर पंच रथ प्रकार का है तथा इसके ऊपर रेखा शिखर है। मन्दिर की पीठ सुदृढ़ एवं सामान्य गोटा अंलकरणों से युक्त है, जो जंघा को आधार प्रदान किये हुये है। जंघा के कोष्ठकों में देव–मूर्तियां स्थापित हैं।

प्रतिहारकालीन इस मन्दिर का शिखर भी रेखायतन है। यह पंचरथ प्रकार का है। शिखर मूल पर भी अनेक देवी देवताओं की प्रतिमाएं अंकित हैं, जो इस मन्दिर को विशेष बनाती है। दक्षिणी दिशा के शिखर पर गरूड़ासीन अष्टभुजी चक्रेश्वरी देवी, उत्तर दिशा के शिखर पर चक्रेश्वरी यक्षी की प्रतिमा विशेष दर्शनीय एवं कलात्मक है। इस मन्दिर की सबसे प्रमुख विशेषता मन्दिर की दीवारों के कोष्ठकों में बनी देव, मनुष्य, फूल, पत्तियों आदि की आकृतियां हैं।

चौलुक्यकालीन जैन मन्दिरों का वैशिष्ट्य :

चौलुक्य शैली की अलग विशेषता रही है। चौलुक्य शैली के मन्दिर को पूर्व योजना एवं उद्देश्य से बनाया जाता था। इस शैली के मन्दिर में गर्भगृह, गूढ़–मण्डप, मुख–मण्डप या रंगमण्डप या दोनो होते थे, जो बाहर और भीतर एक दूसरे से जुड़े होते है। इसके अलावा कुछ विशाल मन्दिरों में सभामण्डप भी जोड़ दिये जाते थे, जिसके सम्मुख भाग में तोरण का निर्माण किया जाता था।

बड़े मन्दिरों में 24, 52 या 72 देवकुलिकाएं भी क्रम में जोड़ दी जाती थी।[9] चौलुक्य–शैली के मन्दिर में पीठ बेदी बन्ध और जंघा मुख्य अंग होते हैं, जिन्हें सामूहिक रूप से मण्डोवर, वरण्डिका और शिखर कहा जाता

है। चौलुक्य शैली के मन्दिर की बनावट में गूढमण्डप तथा मूलप्रासाद मन्दिर को दो भागों में विभाजित करता है। समान्तर रेखाओं से बना चतुर्भुज विभाग, जो कि कर्ण द्वारा एक दूसरे को जोड़ते है। इस प्रकार के मन्दिर में तांरगा का अजितनाथ मन्दिर और गिरनार का नेमिनाथ मन्दिर प्रमुख है। चौलुक्यकालीन मन्दिरों के मण्डप अंलकृत स्तम्भों से आच्छादित मिलते है। ये स्तम्भ मण्डप को अष्टकोणीय विन्यास की आकृति प्रदान करते है। इन स्तम्भों में प्रमुख स्तम्भों (दो) के आर–पार अंलकृत तोरणों की योजना मिलती है। इस प्रकार अष्टकोणीय स्तम्भों एवं तोरणों से सज्जित मण्डप विमलवसही लूणवसही, कुम्भारियां के शान्तिनाथ, नेमिनाथ, महावीर तथा पार्श्वनाथ, गुजरात तांरगा आदि के मन्दिरों में विशेष देखने को मिलता है।

स्तम्भयुक्त मुखमण्डप का छह या नौ खण्डकों में विस्तार तथा उसके आस–पास भ्रमती युक्त देवकुलिकाओं का सम्मिलित किया जाना ये दोनों ही परिकल्पनाएं चौलुक्य निर्माण शैली में जैन धर्मावलम्बियों का विशेष योगदान है।[10]

चालुक्यकालीन जैन मन्दिरों का वैशिष्ट्यः

जहां उत्तर भारत में नागर शैली का विस्तार हुआ, वहीं दक्षिण में द्राविड़ शैली का तथा ऐहोल में नागर एवं द्रविड़ दोनों शैलियों का मिश्रित विकास हुआ। दोनों शैलियों की विशेषताओं तथा तत्त्वों के सम्मिश्रण से चालुक्य शैली का जन्म हुआ।[11] आगे चलकर यहीं स्वतन्त्र शैली के रूप में विकसित हुई।

ऐहोल के मन्दिरों को चालुक्य स्थापत्यकला का जन्मदाता कह सकते हैं। ऐहोल के मन्दिरों का गर्भगृह त्रिरत्न योजना पर बना है। उस पर छोटा शिखर है और मन्दिर के सामने के भाग में स्तम्भ युक्त कमरा है।[12]

चालुक्य मन्दिर अष्टभद्र योजना के आधार पर निर्मित हुए थे, जिनमें ज्यामिति के विभिन्न आकार बने होते है।[13] चालुक्य मन्दिरों में द्रविड़ शैली के समान दो उपविभाग हैं – (1) विमान तथा (2) मण्डप

चालुक्य शैली के मन्दिरों में गर्भगृह से सम्बद्ध ढ़का प्रदक्षिणा मार्ग का अभाव मिलता है। मन्दिर के परकोटे की बाहरी दीवार में नागर एवं द्राविड़ दोनो शैलियों की मिश्रित कला देखने को मिलती है। इस शैली के मन्दिरों के गर्भगृह वर्गाकार या वृत्ताकार नहीं वरन् तारे की तरह बहुकोणीय या अष्टभद्र प्रकार के है। इन मन्दिर की संरचना एक ऊंचे अधिष्ठान पर निर्मित होती है यह अधिष्ठान आयताकार न होकर उसी प्रकार का होता है, जिस प्रकार की गर्भगृह की योजना होती है।

ऐहोल का मेगुटि मन्दिर भारत का सबसे प्राचीन जैन मन्दिर है, जो सुरक्षित है। इसके शिलालेख में शक संवत् 556 (ई. 634) में पश्चिमी चालुक्य नरेश पुल्केशी द्वितीय के राज्यकाल में रविकीर्ति द्वारा बनाये जाने का उल्लेख है।[14]

होय्यसलकालीन जैन मन्दिरों का वैशिष्ट्यः

विन्ध्य तथा कृष्णा नदी के मध्य भाग में एक अन्तवर्ती शैली का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे बेसर शैली कहा जाता है। धीरे–धीरे इस स्थानविशेष पर चालुक्य वंश का प्रभुत्व बढ़ा, इसलिए इसे चालुक्य शैली कहा जाने लगा।

दसवीं सदी के बाद ही चालुक्यों के स्थान को द्वार समुद्र के होय्यसल नरेशों ने ग्रहण कर लिया, परिणामस्वरूप इस शैली को बेसर या चालुक्य या होय्यसल शैली कहा जाने लगा। इस शैली के मन्दिर मुख्यतः कर्नाटक मैसूर के श्रवणबेलगोला में सुरक्षित है। जैसे–भण्डारी बसदि, अक्कन बसदि, जिननाथ – शान्तिनाथ बसदि आदि। होय्यसलकालीन मन्दिरों की प्रमुख विशेषताएँ इसप्रकार हैं –

1. योजना तथा इमारती समाकृति
2. सतह की दीवार का अलंकरण
3. शिखर की बनावट और
4. स्तम्भ की शैली।

होय्यसल के किसी भी मन्दिर में भीतरी प्रदक्षिणा पथ नहीं है, इसलिये चबूतरे का बहिर्भाग प्रदक्षिणा के निमित्त प्रयुक्त होता है।[15] मन्दिर की दीवार, भित्तिस्तम्भ तथा ताखों में कलात्मक मूर्तियां हैं, जो होय्यसल शैली की प्रमुख विशेषता है। होय्यसल मन्दिर के शिखर में अष्टभद्र प्रणाली के कारण गुम्बज की दीवार में लम्बी धारियां दिखने लगती है। यह गुम्बज अनेक प्रकार की जिन–मूर्तियों से चित्रित है तथा शिखर पर सिंहललाट होते हैं। गुम्बज की रचना महामेरू की रचना के आधार पर की गई है।

जैन मूर्तिकला का वैशिष्ट्य :

प्राचीनकाल से ही जैन परम्परा में मूर्ति–पूजा प्रचलित रही है। कलिंग नरेश खारवेल के ई.पू. द्वितीय शती के हाथीगुम्फा शिलालेख[16] में नन्दवंश के राज्यकाल अर्थात् ई.पू. चौथी–पांचवी शती में जिन–मूर्तियां प्रतिष्ठापित कराने का उल्लेख मिलता है। एसी ही अनेक जैन मूर्तियां भारत के अलग–अलग स्थानों से प्राप्त हुई हैं, जो कला की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं।

मौर्यकालीन जैन मूर्तिकला का वैशिष्ट्यः

मौर्यकालीन जैन मूर्तियां में मुख्यतः पाटलिपुत्र (पटना) के उपनगर लोहानीपुर तथा बम्बई के प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम में रखी पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा है। यद्यपि इन मूर्तियों में कोई लेख अंकित नहीं है, लेकिन इन मूर्तियों की बनावट, चमकदार पॉलिश इन्हें मौर्यकालीन कलाकृतियों के समकक्ष रखती है।

लोहानीपुर से प्राप्त प्रतिमाएं नग्न और कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं, जो इनके जिनमूर्तियां होने की सूचना देते हैं।[17] इन मूर्तियों में जिनों के वक्षःस्थल पर श्रीवत्स चिन्ह उत्कीर्ण नहीं है। वक्षःस्थल में श्रीवत्स चिन्ह का अंकन जिनमूर्तियों की विशिष्टता और उनकी पहचान का मुख्य आधार है। श्रीवत्स का अंकन सर्वप्रथम

लगभग पहली शती ई.पू. के मथुरा के आयागपट्टों की जिन मूर्तियों में हुआ। इसके उपरान्त श्रीवत्स का अंकन सर्वत्र हुआ। केवल उड़ीसा की कुछ मध्ययुगीन जिनमूर्तियों में श्रीवत्स उत्कीर्ण नहीं है।[18] इस मूर्ति का चुस्त वक्षस्थल ठीक उसी प्रकार का है।

बम्बई के प्रिंस ऑफ संग्रहालय में रखी पार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा भी अपने आप में विशिष्ट है। इस मूर्ति में पार्श्व सर्पफणों के छत्र से आच्छादित निरूपति हैं। इस प्रकार जिनमूर्तियों में सर्वप्रथम पार्श्व का ही वैशिष्ट्य स्पष्ट हुआ। पार्श्व के बाद ऋषभ के लक्षण निश्चित हुये।[19]

कुषाणकालीन जैन–मूर्तिकला का वैशिष्ट्यः

कुषाणकाल तक कला के अन्य अनेक नवीन प्रतिमान स्थापित हो चुके थे। बुद्ध की मानव रूप में प्रतिमा का निर्माण भी इस काल के अन्तर्गत आरम्भ हो गया। सम्पूर्ण प्रतिभा एवं कुशलता के साथ मानवाकृतियों में शिल्पी के द्वारा सौन्दर्य को उद्भाषित करने का निष्कपट प्रयास तथा मूर्तियों में अनेक मुद्राओं द्वारा भावों और आवेगों की अनुपम प्रतिष्ठा समाहित है।

स्वतन्त्र रूप से तीर्थंकर प्रतिमाएं दो रूपों – (1) एकाकी रूप (2) सर्वतोभद्रिका रूप में प्राप्त हुई हैं। इन दोनों को भी दो रूपों में प्रदर्शित किया गया है – स्थानक रूप में जो कायोत्सर्ग (नग्न) मुद्रा है और आसन रूप में में जो ध्यान मुद्रा में है।

कुषाणकालीन जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में स्थानक मुद्रा प्रतिमा की भुजाएं घुटने के नीचे तक प्रसारित है, और उनके भौंहों के मध्य उर्णा (रोमगुच्छ) तथा वक्ष पर श्रीवत्स का चिन्ह बनाया गया है। आसन–मुद्रा में निर्मित मूर्तियां–ध्यान–मुद्रा में है और उनकी दृष्टि नासिका के आग्रभाग पर है।[20]

वासुदेव के समय 84 सम्वत्सर की आदिनाथ की मूर्ति ध्यान मुद्रा में प्राप्त हुई। कुषाणकालीन मथुरा कला में तीर्थंकर प्रतिमा में लांछन का अभाव हैं। इस प्रतिमा के वक्ष स्थल एवं मस्तक के पीछे प्रभामण्डल का अंकन हैं। तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा में भी इस प्रकार का अंकन मिलता है।

कुषाणकालीन इन मूर्तियों की चौकी पर सामने सिंह तथा धर्मचक्र का अंकन है। कहीं कहीं श्रावक भी दिखाई देते है। कलात्मक दृष्टि से कुषाणकालीन जैन प्रतिमाएं बड़ी स्थिर सी दृष्टिगत होती है।[21]

गुप्तकालीन जैन मूर्तिकला का वैशिष्ट्यः

इस काल की देवी–देवता आदि की मूर्तिकला में आध्यात्मिक कान्ति एवं आन्तरिक शान्ति का सुन्दर सामंजस्य देखने को मिलता है। शरीर पर वस्त्रों का प्रदर्शन भी पारदर्शक किया गया है। पारदर्शक वस्त्रों से शरीर का प्रत्येक अंग–प्रत्यंग मोहकता से भरा लगता है। मूर्तियों में समविभक्तता, बनावट की सुघड़ता, सूक्ष्म वस्त्र और नपे–तुले आभरण विशेष दृष्टिगोचर होते हैं।[22] इस युग की बनी 'जिन' प्रतिमाओं में नग्न मुद्रा,

आजानुबाहु ध्यान मुद्रा तथा हथेली, तलवों पर धर्मचक्र, भौंहों के मध्य उर्णा (रोम गुच्छ) आदि पूर्वयुगीन विशेषताओं के साथ अन्य विशेषता थी[23]

गुप्तकालीन तीर्थंकर मूर्तियों में जैन धार्मिक भावना के अनुरूप ध्यान और एकाग्रता का भाव अधिक स्पष्ट है किन्तु लावण्य एवं परिकरात्मक सज्जा से पूर्ण ये मूर्तियां शिल्प सौन्दर्य की दृष्टि से भी उत्कृष्ट हैं।

गुप्तकालीन प्रतिमा में जिनों के साथ लांछनों यक्ष–यक्षी युगलों एवं अष्ट–प्रातिहार्यों का निरूपण प्रारम्भ हुआ। वराहमिहिर द्वारा रचित बृहत्संहिता में गुप्तकालीन प्रतिमाओं के लक्षण का विवेचन किया गया है। जिनों के साथ लांछनों एवं यक्ष–यक्षी युगलों के निरूपण की परम्परा गुप्तयुग में ही प्रारम्भ हुई।

चौलुक्यकालीन जैन मूर्तिकला का वैशिष्ट्य :

जैन मूर्तिकला में चौलुक्य वंश का भी विशेष योगदान रहा हैं। चौलुक्यकाल में गुजरात, राजस्थान जैन कला का प्रमुख केन्द्र रहा। कुम्भारिया, तांरगा, आबू तथा जालौर में जैन मूर्तिकला के अवशेष मिले हैं। गुजरात में जैन–शिल्प–सामग्री श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। गुजरात में जिन मूर्तियां सबसे अधिक संख्या में प्राप्त हुई हैं, इनमें भी ऋषभ एवं पार्श्व की जैन मूर्तियाँ अधिक हैं।

गुजरात के कुम्भारिया, तारंगा आदि के जैन मन्दिरों में 24 देवकुलिकाओं को सयुक्त करने की परम्परा प्रमुख थी। तीर्थंकरों के जीवन–दृश्यों एवं समवसरणों का चित्रण विशेष लोकप्रिय था। जिनों के बाद लोकप्रियता के क्रम में महाविद्याओं का दूसरा स्थान है। यक्ष–यक्षी युगलों में सर्वानुभूति एवं अम्बिका सर्वाधिक लोकप्रिय थे। अधिकांश जिन मूर्तियों के साथ यही यक्ष–यक्षी युगल निरूपति हैं। वहां सरस्वती, शान्तिदेवी, ब्रह्मदेवी, ब्रह्मशान्ति यक्ष, गणेश, अष्ट–दिक्पाल, क्षेत्रपाल एवं 24 जिनों के माता–पिता की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं।[24]

कुम्भारिया गुजरात के बनासकांठा जिले में स्थित है। यहां चौलुक्य शासकों के काल के 5 श्वेताम्बर जैन मन्दिर हैं। ये मन्दिर (11वीं 13 वीं शती ई.) सम्भवनाथ शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर को समर्पित है।[25]

शान्तिनाथ मन्दिर (कुम्भारिया) के सिंहासन के मध्य में चतुर्भुज शान्तिदेवी निरूपित है, जिसके दोनों ओर दो गज और सिंहासन की सूचक दो सिंह आकृतियां उत्कीर्ण हैं। शान्तिदेवी की आकृति के नीचे दो मृगों से वेष्ठित धर्मचक्र उत्कीर्ण है। देवी सर्वानुभूति यक्ष की मूर्ति वैज्ञानिक विशेषताओं से प्रभावित प्रतीत होती है।[26] महावीर मन्दिर के पश्चिमी और उत्तरी प्रवेश द्वारों के समीप 24 जिनों की माताओं का चित्रण है। प्रत्येक स्त्री आकृति की दाहिनी भुजा में फल और बायी भुजा में बालक है। पार्श्वनाथ मन्दिर में महाविद्याओं में ज्वालापात्र लिये हुये ज्वालामालिनी की मूर्ति विशेष कलात्मक है। नेमिनाथ मन्दिर के मुखमण्डप की पूर्वी भित्ति पर चतुर्भुज महालक्ष्मी की ध्यानमुद्रा में आसीन मूर्ति है। इस मूर्ति के लेख[27] में देवी को महालक्ष्मी कहा गया है।

देवकुलिकाओं की पश्चिमी भित्ति पर मयुरवाहना सरस्वती[28] और पद्धावती यक्षी निरूपित है। सम्भवनाथ मन्दिर की भित्ति पर भी महाविद्याओं सरस्वती एवं शान्तिदेवी की मूर्तियां मुख्य हैं।

इसी प्रकार आबू के मन्दिरों में भी कुम्भारिया मन्दिरों की भांति मूलनायक नहीं हैं। यहां महाविद्याओं का अंकन सर्वाधिक है। 16 महाविद्याओं का सामूहिक अंकन विमलवसही में दो बार किया गया है। एक रंगमण्डप में तथा दूसरा देवकुलिका 41 के वितान पर है। विमलवसही के समान लूणवसही में भी महाविद्याओं, अम्बिका यक्षी एवं शान्तिदेवी की मूर्तियां, जिनों एवं कृष्ण के जीवन–दृश्य हैं। गर्भगृह की नेमिनाथ–मूर्ति के अतिरिक्त अन्य किसी उदाहरण में लांछन उत्कीर्ण नहीं है। केवल सुपार्श्व और पार्श्व के साथ सर्पफणों के छत्र प्रदर्शित है। अन्य जिनों की पहचान केवल पीठिका लेखों में उत्कीर्ण नामों के आधार पर की गई है। सभी जिनों के साथ यक्ष–यक्षी रूप में सर्वानुभूति एवं अम्बिका निरूपित है। रंगमण्डप के वितान पर ध्यानस्थ जिनों की 72 मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। यह वर्तमान भूत एवं भविष्य के जिनों का सामूहिक अंकन प्रतीत होता है।[29]

जालौर में कुमारपाल चौलुक्य के शासनकाल का[30] महावीर मन्दिर भी जैन कला का उदाहरण है। यह मन्दिर जालौर के जैन मन्दिरों में विशालतम एवं शिल्प सामग्री की दृष्टि से भी समृद्ध है। मन्दिर में अष्ट–दिक्पालों के दो समूह उत्कीर्ण है, जिनमें सामान्य पारम्परिक विशेषताएं प्रदर्शित है। जालौर लेख (1164 ई.) से ज्ञात होता है कि महावीर मन्दिर मूलतः पार्श्वनाथ को समर्पित था। मन्दिर के गर्भगृह में आज 17 वीं शती ई. की महावीर मूर्ति है। गूढ़मण्डप की दक्षिणी भित्ति पर जयमुकुट एवं मेषवाहन से युक्त ब्रह्मशान्ति यक्ष की एक मूर्ति है।[31]

गंगवंशीय जैन मूर्तिकला का वैशिष्ट्य :

गंगवंशीय शासकों ने जैन कला को न केवल प्रश्रय दिया वरन् उसका प्रचार–प्रसार भी किया। वैसे तो इस काल में अनेक जैन मूर्तियों का निर्माण हुआ लेकिन श्रवणबेलगोला के विन्ध्यगिरि पर स्थापित बाहुबली की विशाल मूर्ति जैन कला ही नहीं वरन् भारतीय कला का विश्व की कला को महत्त्वपूर्ण देन है। इसकी विशालता एवं अंग समायोजन से यह मूर्ति और अधिक सुन्दर हो गई है। यह मूर्ति दिगम्बर नग्नावस्था में है। शरीर का भारी बोझ सम्भालने के लिए टांगों के आगे पीछे की शिला को बमीठों के रूप में छोड़ दिया गया है। सबसे प्रमुख बात इस प्रतिमा को उस समय बनाया गया जब कोई भी वैज्ञानिक साधन नहीं था। इसकी विशालता के कारण इस मूर्ति के आस–पास ऐसा एक भी स्थान नहीं है, जहां से मूर्ति को एक साथ देखा जा सके। मूर्ति का प्रत्येक अंग ऐसा लगता है जैसे उन्हें नाप–तोल कर बनाया हो। जैसे कानों के नीचे का भाग, विशाल कंधे, और आजानुबाहु तथा दो विशाल लटकती हुई भुजाएं, अंगुलियां एवं अंगूठा प्रत्येक अंग मूर्ति के आकार के आधार पर न छोटा है न बड़ा। मूर्ति के पेढू पर की त्रिबलियां, गले की धारियां तथा घूंघराले बालों का गुच्छा उसे और अधिक सजीव एवं सुन्दर बनाते हैं।

यह मूर्ति मूर्तिकला के प्रत्येक भावों को अपने अन्दर समेटे हुए है जैसे – सीना तना हुआ, मुखमण्डल पर हास्य की मंद परन्तु बिल्कुल स्पष्ट झलक, आंखों में संसारी जीवों की दुखावस्थाजन्य कारूणता, अणु–अणु से प्रस्फुरिट वैराग्यभाव आदि। मूर्ति की अधखुली आंखे तथा भौहे चढ़ी हुई अत्यन्त ही सुन्दर आभास कराती है।

जैन स्तम्भकला का वैशिष्ट्य :

जैन स्तम्भ भारतीय कला में अपना विशेष स्थान रखते हैं। ये स्तम्भ अधिकांशतः जैन मन्दिरों के सामने खड़े हैं। दक्षिण भारत के प्राचीन जैन मन्दिरों में स्तम्भों का प्रचलन विशेष था। मानस्तम्भ जैन मन्दिरों के सम्मुख एकाश्म पत्थर का सुन्दर एवं ऊंचा स्थापित स्तम्भ होता है, जोकि सम्बन्धित मन्दिर के सामने खड़ा होकर उसकी प्रतिष्ठा को ओर अधिक बढ़ा देता है। ये मानस्तम्भ प्राचीन इतिहास एवं कला के बारे में विस्तृत जानकारी देते हैं। इन मानस्तम्भों पर तत्कालीन भौगोलिक एवं राजनैतिक अवस्था की विस्तृत जानकारी लिखी हुई रहती हैं। इन स्तम्भों पर कला का प्रमाणिक इतिहास वर्णित रहता है।

श्रवणबेलगोला के विन्ध्यगिरि पर स्थित त्यागद ब्रह्मदेव स्तम्भ विशेष कलात्मक महत्त्व का रहा है यह चामुण्डराय ने बनवाया था। इस पर चामुण्डराय मूर्ति बनाने वाले कारीगर का नाम अंकित था मगर अब किसी कारण यह लेख धुंधला पड़ गया है। इस स्तम्भ की बारीक कारीगरी एवं ऐतिहासिकता विशेष महत्त्व की है। इस स्तम्भ की सबसे प्रमुख विशेषता इसका आधार के स्थान पर शिखर से मण्डप से जुड़ा होना है। यह स्तम्भ कुछ सालों पूर्व तक अधर में अद्भुत ढंग से लटका हुआ था कि हर कोई अपना रूमाल इसके नीचे से निकाल सकता था मगर अब ऊपर से कुछ ढीला हो जाने के कारण यह कुछ टेढ़ा हो गया है। परिणामस्वरूप इसका एक कोना धरती को छूने लग गया है। इस स्तम्भ में अनेक सचित्र शिलालेख हैं।

श्रवणबेलगोला के चन्द्रगिरि पर पार्श्वनाथ बसदि के मुख्यद्वार के सामने भी एक मानस्तम्भ स्थापित है यह अत्यन्त सुन्दर स्तम्भ है। पूर्णतः सुरक्षित इस स्तम्भ के चारों मुखों पर यक्ष एवं यक्षिणियों का अंकन है। यह स्तम्भ अत्यन्त विशाल, बृहद् एवं सुन्दर है। देखने से ऐसा लगता है मानों यह भगवान् पार्श्वनाथ की सेवा में अड़िग स्थिर खड़ा है। आधार पर तीन चौकोर क्रमशः बड़े से छोटे क्रम में चौकिया है तथा इन पर छह गोले कलात्मक जोड़ से जुडे हैं तथा शीर्ष पर देव प्रतिमा है। इस प्रकार यह मानस्तम्भ भी जैन कला का अद्वितीय उदाहरण है।

उपसंहार :

इन स्थापत्य कलाकृतियों ने न केवल प्राचीन भारतीय इतिहास को सुरक्षित रखा है बल्कि प्राचीनकालीन भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक आदि के कलात्मक रूप एवं विभिन्न पहलुओं को भी अपने अन्दर सुरक्षित रखा हैं। इन कलाकृतियों में मुख्यतः मूर्तियों, मन्दिर की दीवारों पर अंकित चित्र, स्तूप की वेदिका, स्तम्भों पर अंकित लेखों में प्राचीन संस्कृति के अवशेष आदि धरोहर के रूप में अंकित हैं, जिनसे सम्बन्धित काल की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता हैं। इस तरह ये कलाकृतियां न केवल कलात्मक रूप में वरन् ऐतिहासिक रूप में भी इतिहास की महत्त्वपूर्ण जानकारी

प्रदान करती हैं। सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर इन कलाकृतियों में छुपी उन गूढ़ बातों का पता चलता है, जिसके उद्देश्य को लेकर सम्बन्धित कलाकृति का निर्माण किया था। वर्तमान में जैनधर्म की इन कलाकृतियों का सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं जीवन के अन्य पक्षों के आधार पर विशेष महत्त्व हैं। इन कलाकृतियों से जैन श्रमण परम्परा के इतिहास के साथ–साथ सम्बन्धित राजवंश से जुड़ी महत्त्वपूर्ण जानकारियां भी मिलती है, जो आधुनिककाल में विशेष महत्त्व रखती हैं।

सन्दर्भ :

---

1. यद्यपि स्तूप का उल्लेख वेदों में भी मिलता है, लेकिन कलात्मक स्तूप का निर्माण बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् ही माना जाता है। सबसे प्राचीन बौद्ध स्तूप धमेख स्तूप है, जो सारनाथ में है।
2. -flag] gfjgj] Hkkjr dh tSu xqgk,a] i`-13
3. सिंह, हरिहर, भारत की जैन गुहाएं, पृ. 55
4. सिंह, हरिहर, भारत की जैन गुहाएं, पृ. 56
5. सिंह, हरिहर, भारत की जैन गुहाएं, पृ. 3
6. - ''भक्त्या भगवतश्शम्भोर्गुहामेतमकारयत् (11) 5
   चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि गुहाभिलेख, प्लीट जॉन फेथफुल, भारतीय अभिलेख संग्रह, पृ. 43
7. कृष्ण देव, Maladevi Temple at Gyaspur, Bombay, पृ. 260
8. कृष्ण देव, वहीं, पृ. 269
9. -Singh,Harihar, 'Jaina Temple of Western India' P.V. Research Institute, Varanasi - 5, 1982 , Page - 184
10. घोष, अमलानन्द – जैन कला एवं स्थापत्य, खण्ड 2, अध्याय 23, पृ. 303
11. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर, पृ. 256
12. वही, पृ. 256
13. वही, पृ. 279
14. संस्कृत जैन शिलालेख संग्रह, भाग द्वितीय, लेख न. –108 (शक सं.–556–634 ई.) ऐहोल (जिला–कलदगी), पृ. 93
15. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर, पृ. 279–280
16. नन्दराज नीतं च का (लि) ग–जिनं संनिवेस, हाथी गुम्फा शिलालेख, पृ. 364, श्लोक 12, वर्ष 12वां
17. तिवारी, मारूतिनन्दन प्रसाद, जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ. – 45
18. तिवारी, मारूतिनन्दन प्रसाद, जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ. 80
19. तिवारी, मारूतिनन्दन प्रसाद, जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ. 80–81
20. श्रीवास्तव, बृजभूषण, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, पृ. 324
21. सादानी, जयकिशनदास मूंदडा बिट्ठलदास, भारतीय मूर्तिकला, पृ.17
22. श्रीवास्तव, बृजभूषण, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, पृ. 352
23. श्रीवास्तव, बृजभूषण, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, पृ. 365
24. तिवारी, मारूति नन्दन प्रसाद, जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ. 52
25. तिवारी, मारुति नन्दन प्रसाद, ''A breaf surve of the Iconographic Data at Kumbhariya, North Gujrat, सम्बोधि, खण्ड–2, अध्याय–1, पृ. 7–14
26. तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद – जैनप्रतिमा विज्ञान, पृ. 54
27. वि.सं. 1119 (1134ई.) का लेख है। सोमपुरा, कान्तिलाल फूलचन्द पू.नि. पृ. 158
28. सरस्वती के साथ मयूर वाहन का उल्लेख केवल दिगम्बर परम्परा में है।
29. तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद, जैनप्रतिमा विज्ञान, पृ. 64
30. जालौर लेख (1164 ई.) से ज्ञात होता है कि महावीर मन्दिर मूलतः पार्श्वनाथ को समर्पित था। मन्दिर के गर्भगृह में आज 17 वीं शती ई. की महावीर मूर्ति है। नाहर, पी.सी., जैन इन्स्क्रिपशन्स, भाग–1, कलकत्ता, 1918, पृ. 239, लेख सं. 899
31. तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद, जैनप्रतिमा विज्ञान, पृ. 66